Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-447-452

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.- 447-452
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

**Author's :**

**रूबी कुमारी**

शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा.

Corresponding Author :

**रूबी कुमारी**

शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा.

# मेरीगंज का आंतरिक यथार्थ : 'मैला आँचल' में चित्रित वर्ग-संघर्ष, अंधविश्वास और राष्ट्रीय मोहभंग

**शोध सारांश :** प्रस्तुत शोध-पत्र फणीश्वरनाथ रेणु के कालजयी उपन्यास 'मैला आँचल' के चुनिंदा और विशिष्ट प्रसंगों के आलोक में स्वतंत्रता कालीन ग्रामीण भारत के बहुपरतीय संक्रमण का समाजशास्त्रीय अनुशीलन करता है। यह शोध मुख्य रूप से मेरीगंज अंचल के उन आंतरिक दस्तावेज़ों पर केंद्रित है, जहाँ पारंपरिक सामंती वर्चस्व, जातीय त्रिगुणात्मक संघर्ष (कायस्थ, राजपूत, यादव) और कबीरपंथी मठों की ओट में फलने-फूलने वाला स्त्री-शोषण अपने नग्न रूप में दिखाई देता है। आलेख के अंतर्गत यह विश्लेषित किया गया है कि कैसे स्वाधीनता के संधिकाल (1947-1948) में ग्रामीण चेतना का स्थापित गांधीवादी राजनीति से मोहभंग होता है और सर्वहारा वर्ग सोशलिस्ट विचारधारा की ओर अग्रसर होता है, जिसके प्रत्युत्तर में ज़मींदार वर्ग दफा 144-145 जैसी कानूनी पेचीदगियों और बिना रसीद की बटाईदारी के माध्यम से शोषण के नए कूटनीतिक रास्ते खोज लेता है।

इसके अतिरिक्त, यह शोध-पत्र आंचलिक लोक-संस्कृति (समदाउन, निर्गुण, श्रम-गीत) के उस अनूठे समाजशास्त्र को रेखांकित करता है, जिसके माध्यम से ग्रामीण मानस राष्ट्रीय अस्मिता (भारतमाता) का 'देवीकरण' करता है तथा गांधी और नेहरू जैसे आधुनिक नायकों को अपने लोक-मिथकों में ढाल लेता है। अंततः, महामारी के दौर में पनपने वाले 'बंदर के भूत' जैसे अंधविश्वास, खलासी की वीभत्स ओझा-संस्कृति तथा महात्मा गांधी की हत्या जैसी राष्ट्रीय त्रासदी को भी व्यक्तिगत पापों का 'दैवीय दंड' मान लेने की कूपमंडूकता यह सिद्ध करती है कि राजनैतिक स्वतंत्रता मिल जाने के बाद भी अंचल का आंतरिक संसार मध्यकालीन जड़ता के कुहासे में घिरा हुआ था। यह शोध-पत्र निष्कर्षतः प्रमाणित करता है कि जब तक ग्रामीण भारत को इस मानसिक संकीर्णता और सांस्कृतिक पाखंड से मुक्त नहीं किया जाता, तब तक वास्तविक सामाजिक सुराज का स्वप्न अधूरा ही रहेगा।

**बीज शब्द : आंचलिक समाजशास्त्र, वर्ग-संघर्ष, मठ संस्कृति, स्त्री-लांछन, राजनैतिक मोहभंग, सामंती कूटनीति, लोक-संस्कृति, राष्ट्रीय चेतना।**

'मैला आँचल' के समाजशास्त्र की आधारशिला मेरीगंज की बहुपरतीय और जटिल जातीय संरचना है। फणीश्वरनाथ रेणु ने उपन्यास के

प्रारंभिक पृष्ठों में ही अंचल की लोक-कथाओं और यथार्थ के अंतर्संबंधों को उघाड़कर रख दिया है। गाँव में प्रचलित 'कमला मैया द्वारा शादी-ब्याह में चाँदी के बर्तन देने और एक बिगड़ी नीयत वाले गृहपति द्वारा चोरी किए जाने' की लोक-श्रुति अंचल के नैतिक पतन की गाथा है। रेणु जी इस मिथक का अत्यंत तीखा समाजशास्त्रीय उपयोग करते हुए दिखाते हैं कि अंचल की लोक-कथाएँ भी जातीय विद्वेष से मुक्त नहीं हैं; उस ऐतिहासिक चोरी के आरोपी को लेकर भी गाँव में दो स्पष्ट मत हैं—"राजपूतटोली के लोगों का कहनीयाला वह कायस्थटोली का गृहपति था; कायस्थटोलीवाले कहते हैं, वह राजपूत था।" (पृष्ठ 16) यह विभाजन सिद्ध करता है कि मेरीगंज में सत्य भी जातियों के चश्मे से ही देखा और गढ़ा जाता है। गाँव का वास्तविक धरातल पुश्तैनी मन-मुटाव, आर्थिक शोषण और सामाजिक वर्चस्व की अंतहीन वेदियों पर टिका है। अंचल की इस त्रिगुणात्मक दलीय राजनीति का प्रामाणिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करते हुए रेणु जी लिखते हैं :- "अब गाँव में तीन प्रमुख दल हैं, कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीनों दलों में बँटे हुए हैं।"[1]

इस सामाजिक ताने-बाने में ब्राह्मणटोली की भूमिका एक परोक्ष शोषक और भड़काने वाले तत्व के रूप में उभरती है। जब यादव वर्ग सामाजिक चेतना और बराबरी के अधिकार के रूप में 'जनेऊ' धारण करता है, तो राजपूत उसे स्वीकार नहीं कर पाते और उनके बीच युद्ध की स्थिति बन जाती है। ऐसे समय में ब्राह्मण स्वयं पीछे रहकर राजपूतों की सामंती चेतना को यह कहकर उभारते हैं कि कलिकाल में राजपूत ही धर्म की रक्षा करें। वहीं दूसरी ओर, कायस्थटोली के मुखिया और राज पारबंगा के चतुर तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद मल्लिक (जो तीन पुश्तों की सत्ता के बल पर एक हजार बीघे के काश्तकार हैं) अपनी जमींदारी और वर्चस्व को सुरक्षित रखने के लिए यादवों को अदालत और मुकदमेबाजी का झुनझुना थमा देते हैं। कायस्थटोली को अन्य छोटी जातियों द्वारा 'मालिकटोला' और राजपूतों द्वारा 'कैथटोली' कहा जाना यह स्पष्ट करता है कि मेरीगंज में भाषा, पद, सत्ता और यहाँ तक कि लोकगीत भी जातीय अस्मिता और वर्ग-संघर्ष के औजार बन चुके हैं। "लछमी के रग-रग में अब साधु-सुभाव, आचार-विचार और नियम-धरम रम गया है। साहेब की दया है।"[2]

यह आत्म-विस्मृति सिद्ध करती है कि धार्मिक सत्ता किस प्रकार पीड़ित की वैचारिक चेतना को ही कुंद कर देती है। इसके साथ ही, रेणु जी मठ के अन्य चेलों जैसे रामदास के माध्यम से धर्म के नाम पर पलने वाले परजीवी चरित्रों पर तीखा प्रहार करते हैं, जिनकी भक्ति मात्र पेट भरने और ढोंग रचने तक सीमित है—"भक्ति-भाव ना जाने भोंदू पेट भरे से काम!" माघ की ठिठुरती सुबह में इस जर्जर मठ से निकलने वाली 'प्रातकी' (प्रभात फेरी) और 'बीजक' के शबद अंचल के आंतरिक अंतर्विरोधों को और गहरा करते हैं। एक तरफ कबीर के निर्गुण पदों के जरिए संसार की माया और भ्रम के टूटने का राग अलापा जा रहा है :- "भोर भयो भव भरम भयानक भानु देखकर भागा जी, / ज्ञान नैन साहेब के खुलि गयो, थर-थर काँपत माया जी।"[3]

परंतु, इस आध्यात्मिक गायन के ठीक समानांतर मठ के भीतर वासना और पाखंड की भयानक माया पैर पसारे खड़ी है। बूढ़े महंत का दंतहीन, दमे से जर्जर शरीर और उनका बेसुरा राग वास्तव में इस दम तोड़ती और सड़ती हुई धार्मिक संस्था का भौतिक प्रतीक है, जिसे लक्ष्मी अपनी सुरीली तान और कोमल लय से सँभाले रखने का निष्फल प्रयास करती है। शहनाई के सुर में सुर मिलाने वाले भोंपू की तरह गूंजता महंत का यह मोटा राग और कबीरपंथ की ओट में चलता यह पूरा प्रपंच यह स्पष्ट करता है कि स्वाधीनता के संक्रमण काल में ग्रामीण भारत के ये धार्मिक मठ ज्ञान के प्रकाश के केंद्र नहीं, बल्कि अज्ञानता, पाखंड और मानवीय गरिमा के हनन के अंधेरे कुएँ बन चुके थे।

"अरे सूते ले देबी हो प्यारे लाली पलँगिया से... / खाए ले गुआ खिल्ली पान जी !... / याद जो आवे है प्यारी तोहरी सुरतिया से / शाले करेजवा में तीर जी...!"[4]

यह सिद्ध करता है कि अंचल का आम आदमी अपने व्यक्तिगत राग और विरह को भी लोक-रस में डुबोकर ही व्यक्त कर पाता है। परंतु, इस संगीतात्मक रस के पीछे जो सामाजिक विडंबना छिपी है, वह अत्यंत भयावह है। रेणु जी यहाँ ग्रामीण समाज में एक 'जवान बेवा' (युवा विधवा) बेटी की लाचारी और उसके माता-पिता द्वारा किए जाने वाले आर्थिक शोषण के समाजशास्त्र को उघाड़ते हैं। फुलिया के माता-पिता उसकी शादी इसलिए नहीं होने देना चाहते क्योंकि वे उसकी मज़दूरी और कमाई पर पल रहे हैं। इस अमानवीय सामंती सोच पर तीखा प्रहार करते हुए रमजूदास की स्त्री कहती है:-"कब तक बेटी की कमाई पर लाल किनारीवाली साड़ी चमकाओगी ? आखिर एक हद होती है किसी बात की ! मानती हूँ कि जवान बेवा बेटी दुधार गाय के बराबर है। मगर इतना मत दूहो कि देह का खून भी सूख जाए।"[5]

यह प्रसंग दिखाता है कि ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के भीतर भी स्त्री किस प्रकार एक उपभोग्य वस्तु और आर्थिक लाभ का

साधन मात्र बनकर रह गई है। फुलिया का यह डर कि यदि समाज के बंधनों के कारण उसका जीवन भटकाव की ओर गया, तो उसे 'नककट्टी चमाइन' के पास जाकर पेट गुँथवाने जैसी दर्दनाक कुप्रथाओं से गुजरना पड़ेगा, अंचल में स्त्री-स्वास्थ्य और असुरक्षा की भयानक तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही, अंचल की स्त्रियों के आपसी विवादों में 'भरी पंचायत में पीठ पर झाड़ू की मार खाने' और 'भैंस पर रासलीला' जैसे लांछनों का खुलकर प्रयोग होना यह स्पष्ट करता है कि मेरीगंज का समाज नैतिक रूप से कितना खोखला और मर्यादाविहीन है। निष्कर्षतः, पृष्ठ 65 का यह यथार्थ प्रमाणित करता है कि अंचल की लोक-संस्कृति जहाँ एक तरफ प्रेम को सुर देती है, वहीं दूसरी तरफ वहाँ का सामाजिक ढांचा स्त्री की अस्मिता, उसकी वैचारिक स्वतंत्रता और उसकी देह को क्रूरता से दूहने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

महंत के चेलों (जैसे चरणदास) की अकर्मण्यता और मर्यादाहीनता पर प्रहार करते हुए जब वह कहती है:-"चरनदास ! पहले बीजक पाठ होगा, तब माटी। इसके बाद सभी सन्तन के गोर पर माटी दी जाएगी। इतना भी नहीं जानते?"[6]

यहाँ अंचल की एक स्त्री का मात्र एक भोग्या या सेविका के रूप से ऊपर उठकर पूरी धार्मिक संस्था को अनुशासित करने वाले नेतृत्वकर्ता के रूप में उदय होता है। इस सामाजिक यथार्थ के बाद, रेणु जी ने मेरीगंज की लोक-संस्कृति के चरम कारुणिक और दार्शनिक रूप को 'समदाउन' और 'निर्गुण' के माध्यम से व्यक्त किया है। समाधि (गोर) के समय अंचल के कीर्तनियाँ वर्ग द्वारा गाई जाने वाली समदाउन वास्तव में जीवन की नश्वरता का सबसे सुंदर समाजशास्त्रीय दस्तावेज़ है:- "हाँ रे, बड़ा रे जतन से सुगा एक हे पोसल, / माखन दुधवा पिलाए। / हाँ रे, से हो रे सुगना बिरिछी चढ़ि बैठल / पिंजड़ा रे धरती लोटाए... ?"[7]

पिंजड़े और सुगे (तोते) का यह रूपक अंचल की उस साझी चेतना को दर्शाता है, जहाँ कबीरपंथ का निर्गुण दर्शन सीधे आम आदमी की भाषा और गीतों में घुल गया है। रामदास द्वारा खंजड़ी बजाकर गाया जाने वाला पद—"सुरपुर से हंसा आओल, नरपुर समाओल हो राम..."—यह स्पष्ट करता है कि अंचल का यह समाज चाहे कितना भी अशिक्षित और शोषित हो, लेकिन जीवन, मृत्यु, आत्मा और काया के रहस्यों को समझने और उन्हें लोक-रस में ढालने की उसकी सांस्कृतिक क्षमता अत्यंत समृद्ध और जीवंत है। "काँचहि बाँस के पिंजड़ा, / जायें दियरो न बाती हो, / अरे हंसा उड़ल आकाश, / कोई संगो न साथी हो !"[8]

इस आध्यात्मिक वैराग्य के पीछे छिपा समाज का लिंग-भेद और क्रूर पाखंड अत्यंत विचलित करने वाला है। मेरीगंज का यह रूढ़िवादी समाज पुरुष-प्रधान सोच से ग्रसित है, जो बुढ़ापे में ब्रह्मचर्य से डिगने का सारा दोष मृत महंत के बजाय कोठारिन लक्ष्मी के सिर मढ़ देता है। समाज का यह दोहरा चरित्र स्थापित करता है कि कैसे शोषित स्त्री को ही अंततः शोषक के धर्म-भ्रष्ट होने का कारण मान लिया जाता है; जैसा कि मूल पाठ में दर्ज है—"यह तो महन्थ साहेब का दोख नहीं। उसका भाग ही खराब है। ...दोख तो लछमी का है। एक ब्रह्मचारी का धरम भ्रष्ट करने का पाप उसके माथे है।"[9] लक्ष्मी का आत्म-विलाप और उसके 'जिंदगी-भर के जमे हुए आँसू' उस सामाजिक और मानसिक प्रताड़ना की गवाही हैं, जिसे वह मौन रहकर सहती आई थी। "नहीं तोरा आहे प्यारी तेग तरबरिया से / नहीं तोरा पास में तीर जी !... / ...कौनहि चीजवा से मारलू बटोहिया के / धरती लोटाबेला बेपीर जी ई ई ई...।"[10]

इस काव्य-सौंदर्य के भीतर जो सामाजिक सच छिपा है, वह स्त्री पर लादे गए दमघोंटू पारिवारिक और सामंती ढांचे पर तीखी चोट करता है। ग्रामीण परिवेश में सासू, ननद और जेठ जैसे रिश्ते जिस दमनकारी सत्ता का प्रतीक हैं, अंचल की स्त्री उस कारागार से मुक्त होने के लिए लोक-गीतों की ओट में एक गहरा आक्रोश व्यक्त करती है; जैसा कि मूल पाठ में दर्ज है:-"सासू मोरा मरे हो, मरे मोरा बहिनी से, / मरे ननद जेठ मोर जी ! / मरे हमर सबकुछ पलिबरवा से, / फसी गइली परेम के डोर जी !..."[11]

यह संवाद समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सिद्ध करता है कि प्रेम की स्वतंत्रता के सामने स्त्री के लिए ये पारंपरिक और सामंती पारिवारिक बंधन कितने अर्थहीन और दमनकारी हो जाते हैं। पृष्ठ पर अंकित 'केस-हिस्टीरिया' और बेहोशी का संदर्भ यह स्पष्ट करता है कि मेरीगंज की युवतियाँ (जैसे कमली) जब अपनी इन स्वाभाविक आकांक्षाओं और प्रेम की कसक को समाज के डर से ज़ुबान नहीं दे पातीं, तो वही घुटन उनके भीतर मानसिक अवसाद और हिस्टीरिया जैसी बीमारियों का रूप ले लेती है। रेणु जी का यह यथार्थ प्रमाणित करता है कि अंचल की लोक-संस्कृति इन गीतों के माध्यम से समाज के उस क्रूर सच को भी स्वर दे देती है, जिसे आम दिनों में कहना वर्जित माना जाता है।

"चढ़ली जवानी मोरा अंग अंग फड़के से / कब होइहैं गवना हमार रे भउजियाऽऽऽ ! / ...हथवा रँगाये सैयाँ देहरी बैठाई गइले / फिरहू न लिहले उदेश रे भउजियाऽऽऽ !"[12]

रेणु जी इस बाह्य संगीतात्मक वातावरण का अत्यंत तीखा समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक उपयोग कमली के आंतरिक संसार को उघाड़ने के लिए करते हैं। गाड़ीवानों के गले से निकलने वाली यह कूक सीधे कमली के अवचेतन में बैठी उस हूक (पीड़ा) से जा टकराती है, जो उसके मानसिक अवसाद का मूल कारण है। सामंती और पारंपरिक परिवेश में एक सयानी युवती के विवाह ('हाथ पीला होना') की सामाजिक चिंता और अंचल का रुखापन स्त्री को किस कदर एकाकी बना देता है, इसे रेखांकित करते हुए लेखक लिखते हैं:- "ननदिया के दिल की हूक गाड़ीवानों के गले से कूक बनकर निकल रही है। भउजिया ?...कमली की कोई भौजी नहीं, किससे दिल की बात कहे ? भउजिया की ननदिया की तो शादी हो चुकी है, कमली का तो हाथ भी पीला नहीं हुआ है।"[13]

यह प्रसंग समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है; यह स्पष्ट करता है कि कमली की बीमारी केवल शारीरिक या दैवीय प्रकोप नहीं है, बल्कि वह किसी भाभी या सखी के अभाव में अपनी स्वाभाविक आकांक्षाओं को व्यक्त न कर पाने जनित घुटन का परिणाम है। इस स्तर पर आकर अंचल के पारंपरिक और रूढ़िवादी धार्मिक ग्रंथ (जैसे 'प्रेमसागर') भी स्त्री के इस मानसिक सूनेपन और भावनात्मक संताप को भरने में पूरी तरह अप्रासंगिक और लाचार सिद्ध होते हैं। सुकदेव जी द्वारा राजा परीक्षित को सुनाए जाने वाले कृष्ण-प्रसंग में कमली का मन न लगना यह प्रमाणित करता है कि अंचल की युवा स्त्री को थोपी गई धार्मिक सांत्वना नहीं, बल्कि वास्तविक मानवीय करुणा, सह्यानुभूति और वैज्ञानिक उपचार की आवश्यकता है, जो आगे चलकर डॉ. प्रशांत के रूप में मेरीगंज की धरती पर अवतरित होती है। "...यह जो लाल झंडा है, आपका झंडा है, जनता का झंडा है... यह गरीबों, महकूमों, मजलूमों, मजबूरों, मजदूरों के खून में रंगा हुआ झंडा है! ...जमीनों पर किसानों का कब्जा होगा।"[14]

रेणु जी इस आधुनिक राजनीतिक चेतना के समानांतर आंचलिक मानस के उस अंतर्विरोध को भी उघाड़ते हैं, जहाँ ग्रामीण जनता आधुनिक राजनीतिक प्रतीकों को अपनी पारंपरिक रुढ़ियों के चश्मे से देखती है। एक सीधा-साधा वैष्णव ग्रामीण 'बादरदास' जब झंडे के लाल रंग को सचमुच का 'मानवीय रक्त' समझ बैठता है, तो उसका पारंपरिक धार्मिक तंत्र काँप उठता है और वह 'धरम भ्रष्ट' होने के भय से झंडा फेंक देता है। इसी प्रकार, जोतकी काका द्वारा इसे राजनीतिक चेतना के रूप में देखने के बजाय—"पताखा पतन, अशुभ, अमंगल और अनिष्ट की सूचक"—मानना यह प्रमाणित करता है कि अंचल में आधुनिक विचारधाराओं की राह में सदियों पुराने अंधविश्वास और रुढ़ियाँ कितनी बड़ी बाधा हैं।

इस वैचारिक द्वंद्व के बावजूद, आर्थिक रूप से शोषित सर्वहारा वर्ग (जैसे संथालटोली) के भीतर इस नई राजनीति का आकर्षण इतना तीव्र है कि वहाँ का एक-एक व्यक्ति दल का सदस्य बन जाता है, यहाँ तक कि एक अल्पायु बालक भी 'मूंछों की रेख' का हवाला देकर 'लेबरी' (श्रमिक सदस्यता) में शामिल होने के लिए छटपटाने लगता है। इस प्रसंग का सबसे महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय निष्कर्ष स्थापित कांग्रेसी राजनीति से जनता के तीव्र 'मोहभंग' के रूप में प्रकट होता है। खादीधारी और गांधीवादी आदर्शों के संवाहक बालदेव जी को मंच पर बोलने से रोक दिया जाना और बासुदेव द्वारा उन्हें सीधे तौर पर—"बालदेव जी, आपका विख्यान हम लोग बहुत सुन चुके हैं। आप पूँजीबाद हैं। इस समय आप नहीं बोल सकते" (पृष्ठ 114)—कहकर नकार दिया जाना यह सिद्ध करता है कि आज़ादी के संक्रमण काल में ग्रामीण सर्वहारा वर्ग अब केवल नैतिक उपदेशों से संतुष्ट होने वाला नहीं था; वह कांग्रेस के भीतर छिपे सामंती और पूंजीवादी चरित्र को पहचानने लगा था और अपने वास्तविक आर्थिक अधिकारों (ज़मीन और श्रम के अधिकार) के लिए नई और उग्र राजनीतिक विचारधाराओं की ओर कदम बढ़ा रहा था। "ठाकुर (नाई) टोले से और रजकटोले से एक-एक आदमी को ऊँचे सफरे पर बैठने के लिए चुन लिया जाए। ...आओ डोमन भाई ! अपने टोले से किसको पंच चुनते हो? ...कालीचरन प्यारे को अपने ही पास बिठलाता है।"[15]

यह दृश्य अंचल में दबे-कुचले वर्ग के लोकतांत्रीकरण और सामाजिक उभार को प्रमाणित करता है। परंतु, इस क्रांतिकारी उभार को कुचलने के लिए कायस्थटोली के चतुर मुखिया तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद लाठी की पारंपरिक सामंती भाषा को छोड़कर विधिक, राजनीतिक और भाषाई चालाकी का सहारा लेते हैं। वे अपनी सुपारी कतरते हुए 'अखबार-गजट' और वैश्विक संकटों का ज्ञान बघारकर सीधे-साधे किसानों को मानसिक रूप से डराने की रणनीति अपनाते हैं। बंगाल के अकाल (1943) की ऐतिहासिक विभीषिका को अंचल के चरवाहों के लोकगीत—"बड़ जुलुम कइलक अकलवा रे / बंगाल मुलुकवा में..."—से जोड़ते हुए वे देश के नए-नए जेल से छूटे 'लीडरों और मिनिस्टरी' (मंत्रिमंडल) के प्रति सहानुभूति का नाटक रचते हैं। वे अदालत की दफा 144 और 145 जैसी कानूनी पेचीदगियों का हौआ खड़ा करके किसानों के भीतर यह भय पैदा करते हैं कि यदि वे अपने हक की ज़मीन के लिए लड़ेंगे, तो खेत परती रह जाएंगे, अनाज नहीं पैदा होगा और देश का 'सुराज' खतरे में पड़ जाएगा।

इस भाषाई छद्म के पीछे जो घिनौना आर्थिक शोषण छिपा है, उसे उजागर करते हुए तहसीलदार किसानों के सामने एक गुप्त समझौते का प्रस्ताव रखते हैं:- "...तो भाई, आपस में विचारकर, मिलकर देखो कि किस काम में भलाई है। ...न रसीद माँगें, न कोई किसी का हक छुड़ावे और न कोई दें। ...इस तरह चलें कि हाँ हुजूरआली, चिट्ठी-चपाती, रुक्का-है-हैं, हो-हो !..."[16]

यह संवाद समाजशास्त्रीय रूप से यह सिद्ध करता है कि आज़ादी के बाद का जमींदार वर्ग बिना रसीद दिए बटाईदारी की उस अवैध सामंती व्यवस्था को सुरक्षित रखना चाहता है, ताकि कानूनी दस्तावेज़ों में कभी किसानों का ज़मीन पर मालिकाना हक दर्ज ही न हो सके। 'हाँ हुजूरआली' और 'है-हैं, हो-हो' की यह संस्कृति वास्तव में सदियों पुरानी दासता और चापलूसी को नए लोकतंत्र में भी जीवित रखने का षड्यंत्र है। पंचायत के अंत में 'महारानी चम्पावती' के प्रसंग पर ज़मींदारों का अट्टहास और नई चेतना से लैस युवा 'कॉगरेसियों' और सोशलिस्टों के प्रति उनका छिपा हुआ भय यह स्पष्ट करता है कि अंचल की पंचायतें अब न्याय का केंद्र नहीं, बल्कि स्थापित शोषक वर्ग द्वारा "सिरफ बेजमीनवालों को ही सीख देने" और उनके न्यायसंगत अधिकारों को कूटनीति की ओट में दफ़न करने का एक क्रूर सामंती औजार बनकर रह गई हैं। "दुनिया के दोख-गुन को देखने के पहले अपनी काया की ओर निहारो... मन मैला तन सूबरो, उलटी जग की रीत... पहले मन को साफ करो। मन पवित्र नहीं, इसलिए वह दुखी होता है, निरास होता है।"[17]

यहाँ ग्रामीण स्त्री की दार्शनिक और वैचारिक परिपक्वता सिद्ध होती है। इसके साथ ही, लक्ष्मी द्वारा जीवन और साधना की थकान को अभिव्यक्त करने के लिए आंचलिक निर्गुण साखी का प्रयोग करना अंचल के सामूहिक अवसाद को स्वर देता है:- "चलते-चलते पगु थका / नगर रहा नौ कोस, / बीचहिं में डेरा परौ / कहरु कौन का दोख !"[18]

यह दोहा समाजशास्त्रीय रुप से आज़ादी के बाद मेरीगंज की जनता और बालदेव जैसे आदर्शवादी कार्यकर्ताओं के भीतर उपजे उस 'मोहभंग' का प्रतीक है, जहाँ मंज़िल (सुराज) के अत्यंत निकट होकर भी ग्रामीण चेतना थककर बीच रास्ते में ही 'डेरा' डालने को विवश है।

इस प्रसंग का चरम समाजशास्त्रीय उत्कर्ष तब होता है जब आज़ादी के बाद की विकृत राजनीति से निराश हो चुका बालदेव, लक्ष्मी के इस श्वेत वस्त्रधारी, करुणामयी और ओजस्वी रूप में 'भारतमाता' की छवि का साक्षात्कार करता है। बावनदास के उस कथन को याद करते हुए कि भारतमाता रो रही है, बालदेव को लगता है कि माँ रो नहीं रही, बल्कि भटके हुए लोगों को सत्य का मार्ग दिखा रही है। अंचल का यह राष्ट्रवाद अत्यंत अनूठा है; वह देश या राष्ट्र जैसी अमूर्त आधुनिक पश्चिमी अवधारणा को सीधे स्वीकार नहीं कर पाता, बल्कि उसे अपनी मिट्टी की स्त्री के त्याग, वात्सल्य और सात्विक सौंदर्य के मानवीय रूपक में ढालकर ही समझ पाता है। परंतु, इस पवित्र और उदात्त आध्यात्मिक क्षण पर प्रहार करते हुए जब मठ का नया महंत रामदास अपनी संकुचित और संदेहास्पद सामंती दृष्टि के कारण चिल्लाता है—"भंडारी ! बालदेव पागल हो गया ! दौड़ो !" (पृष्ठ 235)—तो यहाँ अंचल का वह अंतर्विरोध पुनः नग्न हो जाता है जहाँ स्थापित धार्मिक सत्ता किसी भी सात्विक, मानवीय और वैचारिक उभार को पचा नहीं पाती और उसे 'उन्माद' या 'पागलपन' घोषित कर देती है। अंततः डॉक्टर प्रशांत, तहसीलदार और कालीचरण जैसे गाँव के तमाम शक्ति-केंद्रों का वहाँ इकट्ठा होना यह प्रमाणित करता है कि मेरीगंज का समाज शास्त्रीय ज्ञान और वैचारिक सत्य के धरातल पर कितना बंटा हुआ है, जहाँ एक निष्पाप आध्यात्मिक भाव भी क्षण भर में सामाजिक कौतूहल और संशय का विषय बन जाता है। "हाथी चढ़ल आवे भारथमाता डोली में बैठल सुराज ! चलु सखी देखन को / घोड़ा चढ़िये आये बीर जमाहिर पैदल गंधी महराज। चलु सखी देखन को।" (पृष्ठ 255)

यह प्रसंग समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह सिद्ध करता है कि ग्रामीण चेतना ने देश के आधुनिक जन-नायकों को भी अपने सामंती और पारंपरिक लोक-आख्यानों के अनुरुप ढाल लिया है, जहाँ जवाहरलाल नेहरु ('बीर जमाहिर') घोड़े पर सवार शौर्य के प्रतीक हैं और महात्मा गांधी ('गंधी महराज') पैदल चलने वाले किसी त्यागी संत की तरह पूज्य हैं।

"आँ रे काँचहि बाँस के खाट रे खटोलना / हाँ रे मोरी रे ए ए ए हाँ आँ आँ रामा रामा ! / चार समाजी मिली डोलिंया उठाओल / लई चलाल जमूना के ओर !"[19]

यमुना (राजघाट) की ओर जाती इस डोली के पीछे गाँव की कुलीन बहुओं (कनियाँ) का सामंती बंधनों और दहलीज को लांघकर दौड़ पड़ना यह सिद्ध करता है कि गांधी का प्रभाव अंचल के अंतःपुर की चेतना तक व्याप्त था। इस करुण गान की टेक—"माई जे रोवय... माँ रो रही है। भारथमाता रो रही है"—राष्ट्रीय अस्मिता के उस आंचलिक रूपांतरण को पूर्णता प्रदान करती है, जहाँ देश की संप्रभुता और उसकी पीड़ा सीधे 'रोती हुई माँ' के मानवीय रूपक में तब्दील हो जाती है। "उसी के पाप से महात्मा

जी मारे गए हैं। उसने साधु के अखाडे को भरस्ट किया है" (पृष्ठ 327)—यह समाजशास्त्रीय रूप से स्पष्ट करता है कि अंचल का धार्मिक और पारंपरिक मानस समकालीन इतिहास की इतनी बड़ी राजनैतिक और दार्शनिक त्रासदी को भी वैज्ञानिक या राजनैतिक दृष्टिकोण से देखने में असमर्थ है। वह मठ के भीतर के नैतिक पतन और रामपियारी द्वारा छिपकर मांस-मछली खाने जैसे व्यक्तिगत विकारों को ही गांधी की हत्या जैसी वैश्विक विभीषिका का 'दैवीय कारण' मान बैठता है। रेणु जी का यह यथार्थवादी चित्रण यह प्रतिपादित करता है कि आज़ादी के बाद का ग्रामीण भारत राजनीतिक रूप से भले ही सुराजी जुलूसों और सोशलिस्ट पार्टियों तक पहुँच गया हो, लेकिन मानसिक और दार्शनिक धरातल पर वह आज भी अपने व्यक्तिगत अंधविश्वासों, पाप-पुण्य के मध्यकालीन ढांचों और आध्यात्मिक भयों से ही संचालित हो रहा था, जो कि नए भारत के निर्माण की राह में सबसे बड़ी विडंबना थी।

**निष्कर्ष** : मैला आँचल' का समाजशास्त्रीय निष्कर्ष यह प्रतिपादित करता है कि राजनैतिक स्वतंत्रता (सुराज) मिल जाने के बाद भी भारतीय गाँवों का आंतरिक संसार वैचारिक, दार्शनिक और सामाजिक धरातल पर मध्यकालीन रूढ़ियों, अंधविश्वासों और शोषक तंत्रों के कुहासे में घिरा हुआ था। रेणु जी अंचल के मलबे के बीच से वैज्ञानिकता और मानवीय करुणा (डॉ. प्रशांत और कमली के संबंध) के अंकुरण को जीवित रखकर यह संदेश छोड़ जाते हैं कि जब तक ग्रामीण भारत को इस मानसिक कूपमंडूकता, ओझा-संस्कृति और जातीय संकीर्णता से मुक्त नहीं किया जाएगा, तब तक वास्तविक लोकतंत्र और सामाजिक सुराज का स्वप्न अधूरा ही रहेगा।

**संदर्भ सूची** :

1. रेणु, फणीश्वरनाथ; मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ- 16.
2. वही, पृष्ठ- 16.
3. वही, पृष्ठ- 25.
4. वही, पृष्ठ- 49.
5. वही, पृष्ठ- 50.
6. वही, पृष्ठ- 50.
7. वही, पृष्ठ- 63.
8. वही, पृष्ठ- 65.
9. वही, पृष्ठ- 77.
10. वही, पृष्ठ- 114.
11. वही, पृष्ठ- 114.
12. वही, पृष्ठ- 202.
13. वही, पृष्ठ- 203.
14. वही, पृष्ठ- 235.
15. वही, पृष्ठ- 255.
16. वही, पृष्ठ-255.
17. वही, पृष्ठ- 263.
18. वही, पृष्ठ- 289.
19. वही, पृष्ठ- 327.

•